

आत्मबोध, मानसिक शान्ति एवं जीवन-दृष्टि के सन्दर्भ में अद्वैत वेदान्त की उपादेयता

प्रो. सूरज प्रकाश गुप्ता

आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग

बी. आर. डी. बी. डी. पी. जी. कॉलेज

आश्रम बरहज, देवरिया, उत्तर प्रदेश

सारांश:-वर्तमान सूचना-प्रधान एवं तीव्र परिवर्तनशील सामाजिक परिवेश में मानसिक अशान्ति, अस्तित्वगत असुरक्षा तथा जीवन के वास्तविक उद्देश्य के प्रति उत्पन्न भ्रम मानव जीवन की प्रमुख चुनौतियों के रूप में उभर रहे हैं। इस शोध-पत्र में इन समस्याओं के समाधान के संदर्भ में आदि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त की दार्शनिक उपादेयता का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि अद्वैत वेदान्त केवल सैद्धान्तिक दर्शन न होकर आत्मबोध, मानसिक शान्ति तथा सम्यक् जीवन-दृष्टि की एक व्यावहारिक ज्ञान-परम्परा है। शोध पत्र में अद्वैत वेदान्त के मूल सिद्धान्तों- अविद्या, ब्रह्म-आत्म ऐक्य, साधन-चतुष्टय, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का दार्शनिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यह प्रतिपादित किया गया है कि मानव के दुःख, बन्धन तथा मानसिक अशान्ति का मूल कारण बाह्य परिस्थितियाँ नहीं, बल्कि आत्मस्वरूप के प्रति अज्ञान एवं मिथ्या आरोपण है। अतः आत्मज्ञान के माध्यम से ही स्थायी शान्ति, आन्तरिक संतुलन तथा वास्तविक स्वतंत्रता की प्राप्ति सम्भव है। अध्ययन में यह भी स्पष्ट किया गया है कि साधन-चतुष्टय के माध्यम से साधक के अन्तःकरण का परिष्कार होता है, जबकि श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन आत्म-साक्षात्कार की क्रमिक प्रक्रिया को पूर्ण करते हैं। अद्वैत वेदान्त संसार-त्याग का उपदेश नहीं देता, बल्कि संसार में रहते हुए विवेक, वैराग्य, मानसिक अनुशासन तथा आत्मबोध के आधार पर संतुलित एवं सार्थक जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करता है।

मुख्य शब्द:-ज्ञमलूतकेद्धरू आत्मबोध, मानसिक शान्ति, साधन-चतुष्टय, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, जीवन-दृष्टि, आत्म-साक्षात्कार। सूचनाओं, विचारों तथा विविध ज्ञान-परम्पराओं से परिपूर्ण समकालीन युग में सत्य के स्वरूप का प्रश्न पुनः अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया है। प्रतिदिन नवीन तथ्यों, मतों तथा व्याख्याओं के उद्भव ने ज्ञान के क्षेत्र को व्यापक तो बनाया है, किन्तु साथ ही यह प्रश्न भी अधिक जटिल हो गया है कि वस्तुतः सत्य क्या है तथा उसकी यथार्थ पहचान किस प्रकार की जा सकती है। बाह्य सूचनाओं की प्रचुरता के बाद भी यदि वास्तविकता के स्वरूप का समुचित बोध न हो, तो ज्ञान भी अनेक बार संशय, भ्रम तथा वैचारिक अस्थिरता का कारण बन जाता है। अतः वास्तविकता के स्वरूप तथा उसके ज्ञान का प्रश्न केवल दार्शनिक जिज्ञासा न होकर मानव जीवन की एक मूलभूत आवश्यकता है। प्रस्तुत शोध पत्र इसी आधारभूत प्रश्न के दार्शनिक समाधान की खोज का प्रयास है। इसका आधार भारतीय योग एवं दर्शन की विभिन्न परम्पराओं का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक विवेचन है। विशेषतः इस अध्ययन का केन्द्रबिन्दु आदि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त का स्वरूप, उसका ज्ञानमौमांसात्मक आधार तथा उसकी व्यावहारिक प्रासंगिकता है। इसका उद्देश्य अद्वैत वेदान्त की उन मूल अवधारणाओं का विश्लेषण करना है, जिनके माध्यम से मनुष्य वास्तविकता के यथार्थ स्वरूप का बोध प्राप्त कर सकता है। सामान्यतः अद्वैत वेदान्त के अध्ययन में साधन-चतुष्टय, श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा आत्म-साक्षात्कार जैसे पारिभाषिक शब्दों के कारण यह दर्शन अत्यन्त जटिल एवं दुरूह प्रतीत होता है। फलतः अनेक बार इसकी मूल भावना सामान्य पाठक की पहुँच से दूर रह जाती है। वस्तुतः ये अवधारणाएँ केवल दार्शनिक शब्दावली नहीं हैं, बल्कि मानव-चेतना के

परिष्कार, ज्ञान की प्रामाणिकता तथा आत्मानुभूति की क्रमिक प्रक्रिया का दार्शनिक निरूपण करती हैं। इसलिए इनका अध्ययन केवल सैद्धान्तिक स्तर पर न होकर व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में भी किया जाना अपेक्षित है। अद्वैत वेदान्त के स्वरूप को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह भी आवश्यक है कि उसका अन्य प्रमुख योग-परम्पराओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाए। भारतीय दर्शन की परम्परा में महर्षि पतञ्जलि का अष्टांग योग अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अष्टांगयोग एक क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक साधना-पद्धति है, जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि इन आठ अंगों के माध्यम से साधक क्रमशः चित्तशुद्धि एवं आत्मानुभूति की ओर अग्रसर होता है। इस सम्पूर्ण साधना का परम लक्ष्य केवल अथवा पुरुष के स्वरूप का प्रत्यक्ष साक्षात्कार है। पतञ्जलि के अनुसार, मानव दुःख का मूल कारण चित्त में विद्यमान क्लेश हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पाँच क्लेश मानव को उसके वास्तविक स्वरूप से विमुख कर देते हैं तथा बन्धन एवं दुःख का कारण बनते हैं। अतः अष्टांग योग का अनुशासन इन क्लेशों के निराकरण पर आधारित है। इस प्रक्रिया में साधक सर्वप्रथम अपने बाह्य आचरण तथा नैतिक जीवन का परिष्कार करता है, तत्पश्चात् शरीर और प्राण का संयम स्थापित करता है तथा अन्ततः चित्त को एकाग्र एवं निर्मल बनाकर ध्यान और समाधि की अवस्था तक पहुँचता है। पतञ्जलि के अष्टांग योग के उपरान्त भारतीय योग-परम्परा की एक अन्य महत्वपूर्ण साधना-पद्धति हठयोग है, जिसका विस्तृत निरूपण घेरण्ड संहिता तथा अन्य हठयोग-ग्रन्थों में प्राप्त होता है। परम्परानुसार भगवान् शिव (आदिनाथ) को हठयोग का आदिप्रवर्तक माना गया है। हठयोग की सांकेतिक व्याख्या के अनुसार 'ह' सूर्य तथा 'ठ' चन्द्र का द्योतक है। इन दोनों के माध्यम से मानव-शरीर में प्रवाहमान परस्पर पूरक प्राणशक्तियों का संकेत किया जाता है। अतः हठयोग का प्रमुख उद्देश्य इन प्राणशक्तियों का संतुलन एवं समन्वय स्थापित करते हुए साधक को उच्चतर आध्यात्मिक अवस्था के लिए तैयार करना है। इस प्रकार पतञ्जलि का अष्टांग योग जहाँ क्रमिक अनुशासन, चित्त-नियमन तथा साधना के माध्यम से आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है, वहीं हठयोग प्राणशक्ति के संतुलन तथा नाडी-शुद्धि को विशेष महत्व प्रदान करता है। यद्यपि दोनों का परम लक्ष्य आध्यात्मिक उत्कर्ष ही है, तथापि उनकी साधना-पद्धतियों में स्पष्ट भिन्नता विद्यमान है। किन्तु जब अध्ययन का केन्द्र आदि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त की ओर स्थानान्तरित होता है, तब एक भिन्न दार्शनिक दृष्टिकोण उद्घाटित होता है। अद्वैत वेदान्त न तो शारीरिक आसनों का मोक्ष का प्रत्यक्ष साधन स्वीकार करता है और न ही प्राणायाम को अंतिम साध्य मानता है। इसके अनुसार मोक्ष का प्रधान साधन आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान है। शंकराचार्य का स्पष्ट मत है कि मानव जीवन में अनुभूत समस्त दुःख, मोह तथा बन्धन का मूल कारण अविद्या या माया है। इसी तथ्य को उनके प्रसिद्ध सिद्धान्त "ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या" में संक्षेपतः अभिव्यक्त किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार केवल ब्रह्म ही परम एवं नित्य सत्य है, जबकि दृश्य जगत परम सत्य की अपेक्षा मिथ्या या अध्यासजन्य अनुभूति का विषय है। यहाँ 'मिथ्या' का अभिप्राय पूर्ण अभाव नहीं, अपितु ऐसा अनुभव है जिसका

व्यावहारिक अस्तित्व तो है, किन्तु जो पारमार्थिक दृष्टि से परम सत्य नहीं है। फलतः अद्वैत वेदान्त के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति किसी विशिष्ट शारीरिक अभ्यास या प्राण-साधना से नहीं, बल्कि आत्मा और ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से सम्भव है। अविद्या के कारण जीव अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर नाम-रूपात्मक जगत को परम सत्य मान बैठता है; किन्तु ज्ञान के उदय होने पर यह भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है और आत्मस्वरूप का यथार्थ बोध सम्भव होता है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाए, तो पतञ्जलि का योग क्रमिक साधना, अनुशासन एवं चित्त-शुद्धि के माध्यम से साधक को आत्मानुभूति की ओर अग्रसर करता है, जबकि शंकराचार्य का ज्ञानयोग सत्य और असत्य, नित्य और अनित्य तथा आत्मा और अनात्मा के मध्य विवेक के द्वारा अविद्या का निवारण करने पर बल देता है। अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन है कि जब तक मनुष्य दृश्य जगत को ही अंतिम सत्य मानता रहता है, तब तक वह बन्धन का अनुभव करता है; परन्तु जैसे ही वह ब्रह्म के अद्वितीय स्वरूप का साक्षात्कार करता है, उसी क्षण अज्ञान का आवरण दूर हो जाता है और यथार्थ का प्रकाश प्रकट होता है।

अद्वैत वेदान्त की समस्त ज्ञान-प्रक्रिया का केन्द्रीय आधार यही है कि साधक का ध्यान बाह्य साधनों की अपेक्षा वास्तविकता के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान पर केन्द्रित हो। इस दृष्टि से आत्म-साक्षात्कार का मार्ग शारीरिक परिश्रम या बाह्य साधना से अधिक दृष्टिकोण के परिष्कार का विषय है। जब साधक यह समझने लगता है कि दृश्य जगत माया के अधीन नाम-रूपात्मक अनुभूति का क्षेत्र है, तब उसके जीवन का लक्ष्य सांसारिक उपलब्धियों की प्रतिस्पर्धा में श्रेष्ठता प्राप्त करना नहीं रह जाता, बल्कि उस अनुभूत जगत के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना बन जाता है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार बन्धन का कारण संसार नहीं, अपितु संसार के प्रति उत्पन्न मिथ्या बोध है। इसी कारण शंकराचार्य ज्ञान को ही अविद्या-निवृत्ति का एकमात्र साधन स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार मनुष्य का वास्तविक स्वरूप शरीर, इन्द्रिय, मन तक सीमित नहीं है, बल्कि वह शुद्ध, नित्य एवं साक्षी रूप चैतन्य है। शरीर, मन तथा उनके द्वारा अनुभूत सुख-दुःख परिवर्तनशील हैं, जबकि आत्मा उन समस्त अवस्थाओं की साक्षी है। अतः आत्मज्ञान का उद्देश्य व्यक्ति को उसके वास्तविक स्वरूप का बोध कराना है; और आत्मानुभूति की पूर्णता इसी में है कि साधक समस्त मानसिक विकल्पों का अतिक्रमण कर उसी अखण्ड आत्मस्वरूप में स्थित हो जाए। यद्यपि यह सिद्धान्त दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त गूढ़ तथा मुक्तिदायक है, तथापि एक व्यावहारिक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि सामान्य गृहस्थ, जो पारिवारिक, सामाजिक तथा व्यावसायिक उत्तरदायित्वों में संलग्न है, वह इस ज्ञानमार्ग का आरम्भ किस प्रकार करे। अद्वैत वेदान्त इस प्रश्न का भी सुव्यवस्थित समाधान प्रस्तुत करता है। वेदान्त परम्परा में आत्मज्ञान की प्राप्ति के साधनों को बाह्य एवं आन्तरिक साधनों में विभाजित किया गया है। बाह्य साधन उन साधकों के लिए अपेक्षित हैं जिनका चित्त अभी भी विषय-वासना, प्रमाद तथा चञ्चलता से पूर्णतः मुक्त नहीं हुआ है। ऐसे साधकों के लिए आत्मज्ञान का अधिकारी बनने से पूर्व एक आवश्यक मानसिक एवं नैतिक तैयारी का विधान किया गया है, जिसे साधन-चतुष्टय कहा जाता है। आदि शंकराचार्य ने विवेक-चूडामणि में स्पष्ट किया है कि इन साधनों के अभाव में ब्रह्मविद्या का यथार्थ फल प्राप्त नहीं हो सकता। साधन-चतुष्टय का प्रथम अंग नित्यानित्यवस्तु-विवेक है। इसका तात्पर्य नित्य और अनित्य, शाश्वत और क्षणभंगुर के मध्य यथार्थ भेद का ज्ञान प्राप्त करना है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार केवल ब्रह्म नित्य है, जबकि समस्त दृश्य जगत अनित्य एवं परिवर्तनशील है। यह सिद्धान्त केवल दार्शनिक प्रतिपादन न होकर मानव-जीवन की मूलभूत समस्या की ओर भी संकेत करता है। सामान्यतः मनुष्य परिवर्तनशील वस्तुओं, पदों, सम्बन्धों तथा भौतिक उपलब्धियों में स्थायी सुख की खोज करता है। किन्तु चूँकि ये सभी अनित्य हैं, अतः उनसे प्राप्त सुख भी क्षणिक सिद्ध होता है।

नित्यानित्यवस्तु-विवेक का अभिप्राय इसी सत्य का सम्यक् बोध है कि अनित्य साधनों से नित्य तृप्ति की अपेक्षा करना ही दुःख का मूल कारण है। साधन-चतुष्टय का दूसरा अंग इहामुत्रार्थभोगविराग है। सामान्य धारणा के विपरीत अद्वैत वेदान्त में वैराग्य का अर्थ केवल सामाजिक जीवन, परिवार या उत्तरदायित्वों का परित्याग नहीं है। इसका वास्तविक अभिप्राय इहलोक तथा परलोक के समस्त भोगों के प्रति आसक्ति का क्षय है। चूँकि विवेक के माध्यम से यह बोध स्थापित हो चुका है कि समस्त भोग अनित्य हैं, अतः उनके प्रति अनावश्यक आसक्ति का परित्याग वैराग्य का स्वाभाविक परिणाम है। अतः वैराग्य का तात्पर्य बाह्य वस्तुओं का त्याग नहीं, बल्कि उनके प्रति मानसिक आसक्ति से निवृत्ति है। मनुष्य अपने समस्त कर्तव्यों का यथावत् पालन करते हुए भी यदि अपनी आन्तरिक शान्ति, आत्ममूल्य तथा संतोष को बाह्य उपलब्धियों, प्रशंसा व फल-प्राप्ति पर आश्रित नहीं होने देता, तभी वह वैराग्य की वास्तविक भावना को धारण करता है। इस प्रकार वैराग्य निष्क्रियता या पलायन का नहीं, अपितु आन्तरिक स्वतंत्रता एवं मानसिक अनासक्ति का दार्शनिक सिद्धान्त है।

साधन-चतुष्टय का तृतीय अंग षट्सम्पत्ति है। यह छह आन्तरिक गुणों या सम्पदाओं का समुच्चय है, जिनके माध्यम से साधक अपने चित्त को आत्मज्ञान के योग्य बनाता है। वेदान्त में इन छह गुणों का उल्लेख क्रमशः- शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा के रूप में किया गया है। ये केवल नैतिक आदर्श नहीं हैं, अपितु मानसिक अनुशासन, आत्मसंयम तथा आध्यात्मिक परिपक्वता के आधारभूत तत्त्व हैं। षट्सम्पत्ति का प्रथम गुण शम है, जिसका अभिप्राय मन तथा उसकी वृत्तियों का निग्रह और आन्तरिक प्रशान्तता है। इसके साथ ही दम का तात्पर्य इन्द्रियों के संयम से है। यद्यपि दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं, तथापि उनके स्वरूप में सूक्ष्म भेद विद्यमान है। शम मन के अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाली चञ्चलता, वासनाओं तथा मानसिक उद्वेगों के शमन का द्योतक है, जबकि दम बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्त होने वाली इन्द्रियों के संयम का बोध कराता है। इस प्रकार दम बाह्य आचरण का अनुशासन है, जबकि शम आन्तरिक चित्त-प्रशान्ति का। इसके उपरान्त उपरति का स्थान है। उपरति का सामान्य अर्थ विषयों से निवृत्ति है। इसका अभिप्राय सामाजिक व लौकिक उत्तरदायित्वों का परित्याग नहीं, बल्कि उन अनावश्यक विषयों, विवादों तथा आकर्षणों से स्वयं को विरत रखना है, जो साधक के चित्त को विचलित करते हैं और आत्म-साधना में बाधक बनते हैं। अतः उपरति चित्त की अनावश्यक विषय-प्रवृत्तियों का स्वाभाविक निरोध है। षट्सम्पत्ति का चतुर्थ गुण तितिक्षा है, जिसे वेदान्त में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। शास्त्रीय दृष्टि से तितिक्षा का अर्थ शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान तथा अन्य समस्त द्वन्द्वों को बिना विषाद, क्रोध, मानसिक विक्षेप के सहन करने की क्षमता है। तितिक्षा केवल प्रतिकूल परिस्थितियों को विवशतावश सह लेने का नाम नहीं है, अपितु ऐसी आन्तरिक धैर्यशीलता है जिसके कारण बाह्य परिस्थितियाँ साधक के मानसिक संतुलन को विचलित नहीं कर पातीं। इसी परिप्रेक्ष्य में शंकराचार्य तितिक्षा का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि बिना प्रतिकार तथा चिन्ता-विलाप के सभी प्रकार के दुःखों का धैर्यपूर्वक सहन करना ही तितिक्षा है। इस प्रकार तितिक्षा आत्मसंयम, धैर्य तथा समत्व का व्यावहारिक रूप है। इसके पश्चात् समाधान का उल्लेख है। समाधान का तात्पर्य चित्त की एकाग्रता तथा उसके स्थिर एवं उद्देश्यपूर्ण नियोजन से है। वेदान्त के सन्दर्भ में इसका अभिप्राय आत्मतत्त्व के ज्ञान में चित्त की स्थिर प्रतिष्ठा है, जिससे मन की चञ्चलता एवं विषयान्तर-प्रवृत्ति का निरोध हो सके। षट्सम्पत्ति का अन्तिम गुण श्रद्धा है। श्रद्धा से अभिप्राय गुरु तथा शास्त्रों के प्रमाण में दृढ़ आस्था से है। वेदान्त के अनुसार, ज्ञान की प्राप्ति के लिए केवल बौद्धिक क्षमता पर्याप्त नहीं होती; साधक में शास्त्र-विहित मार्ग तथा गुरु-उपदिष्ट शिक्षाओं के प्रति विश्वास और

ग्रहणशीलता का होना भी अनिवार्य है। श्रद्धा के अभाव में न तो ज्ञान का सम्यक् आत्मसात् सम्भव है और न ही उसका आत्मानुभूति में रूपान्तरण। इस प्रकार शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा ये छहों गुण सामूहिक रूप से साधक के अन्तःकरण का परिष्कार करते हैं तथा उसे ब्रह्मविद्या के ग्रहण के लिए योग्य बनाते हैं। मेरी दृष्टि में यही कारण है कि वेदान्त परम्परा में षट्सम्पत्ति को आत्मज्ञान की पूर्ववर्ती शर्त के रूप में स्वीकार किया गया है।

साधन-चतुष्टय का चतुर्थ एवं अंतिम अंग मुमुक्षुत्व है। वेदान्त में इसे आत्मज्ञान की पात्रता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना गया है। मुमुक्षुत्व का अभिप्राय मोक्ष या आत्ममुक्ति की तीव्र एवं अविचल इच्छा से है। आदि शंकराचार्य का स्पष्ट मत है कि यदि साधक के अन्तःकरण में बन्धन से मुक्त होने की प्रबल आकांक्षा विद्यमान नहीं है, तो विवेक, वैराग्य तथा षट्सम्पत्ति जैसे पूर्ववर्ती साधनों का अपेक्षित फल प्राप्त नहीं हो सकता। इस दृष्टि से मुमुक्षुत्व समस्त साधन-चतुष्टय का प्रेरक एवं धारक तत्त्व है। वेदान्त के अनुसार मुमुक्षुत्व सामान्य जिज्ञासा व औपचारिक अभिलाषा का नाम नहीं है। यह आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के प्रति ऐसी प्रगाढ़ आकांक्षा है, जिसके समक्ष अन्य समस्त लौकिक इच्छाएँ गौण हो जाती हैं। साधक के अन्तःकरण में जब मोक्ष की यह तीव्र अभिलाषा जागृत होती है, तभी वह आत्मज्ञान के मार्ग में आने वाले विविध अवरोधों, विषय-विकारों तथा मानसिक विचलनों का धैर्यपूर्वक अतिक्रमण करने में समर्थ होता है। इस प्रकार मुमुक्षुत्व आत्म-साधना की निरन्तरता तथा स्थिरता का मूल आधार है। अतः विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व ये चारों मिलकर साधन-चतुष्टय का निर्माण करते हैं। इनका उद्देश्य साधक के अन्तःकरण का परिष्कार करना तथा उसे ब्रह्मविद्या के ग्रहण के योग्य बनाना है। जब इन साधनों के द्वारा चित्त पर्याप्त रूप से शुद्ध, संयमित और एकाग्र हो जाता है, तब साधक अद्वैत वेदान्त में प्रतिपादित आन्तरिक साधना के लिए अधिकारी माना जाता है। इस प्रकार साधन-चतुष्टय साधक को आत्मज्ञान के योग्य बनाता है तथा उसके उपरान्त ब्रह्मविद्या के वास्तविक अभ्यास का आरम्भ होता है।

साधन-चतुष्टय के माध्यम से अन्तःकरण की आवश्यक शुद्धि एवं परिष्कार सम्पन्न होने के उपरान्त साधक अद्वैत वेदान्त में प्रतिपादित आन्तरिक साधनों का अधिकारी बनता है। ये आन्तरिक साधन वे प्रत्यक्ष आध्यात्मिक प्रक्रियाएँ हैं जिनके माध्यम से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार सम्भव माना गया है। वेदान्त परम्परा में इनका त्रिविध स्वरूप स्वीकार किया गया है- श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन। इनका निरन्तर अभ्यास साधक को आत्मबोध की ओर ले जाता है, जहाँ वह निर्विकल्प शान्ति और परम आनन्द का अनुभव करता है। इन साधनों का प्रथम सोपान श्रवण है। बाह्य साधनों द्वारा जब चित्त की चञ्चलता, विषयासक्ति तथा मानसिक विक्षेप पर्याप्त सीमा तक शान्त हो जाते हैं, तभी साधक ब्रह्मविद्या को ग्रहण करने योग्य बनता है। अतः श्रवण का अभिप्राय केवल शास्त्रवचनों का श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करना नहीं है, अपितु गुरु एवं उपनिषदादि प्रमाणग्रन्थों से प्रतिपादित ब्रह्मतत्त्व का श्रद्धापूर्वक, एकाग्रचित्त होकर श्रवण करना है। इसी अवस्था में साधक प्रथम बार यह बोध प्राप्त करता है कि दृश्य जगत नाम-रूपात्मक अनुभूति का विषय है तथा आत्मा ही ब्रह्मस्वरूप, नित्य एवं शुद्ध चैतन्य है। इस प्रकार श्रवण अविद्या के आवरण को दूर करने की प्रथम प्रक्रिया है। किन्तु वेदान्त के अनुसार श्रवण मात्र से आत्मज्ञान की सिद्धि नहीं होती। इसके उपरान्त मनन का विधान किया गया है। मनन का तात्पर्य श्रवण से प्राप्त तत्त्वज्ञान पर युक्तिपूर्वक, पुनः-पुनः तथा सजगतापूर्वक चिन्तन करना है, जिससे समस्त संशयों का निवारण हो सके। श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञान यदि मनन के माध्यम से बुद्धि में दृढ़ न किया जाए, तो वह स्थायी आत्मबोध का रूप ग्रहण नहीं कर पाता। इसलिए मनन वेदान्तीय साधना की अनिवार्य प्रक्रिया है, जिसके द्वारा शास्त्रजन्य ज्ञान दृढ़ होता है। वस्तुतः ज्ञान का वास्तविक स्वरूप केवल सूचना-संग्रह नहीं है। किसी विषय का श्रवण तभी सार्थक

होता है, जब उस पर यथोचित विचार, परीक्षण एवं तर्कसम्मत समीक्षा की जाए। अन्यथा प्राप्त ज्ञान स्मृति का विषय तो बन सकता है, किन्तु आत्मानुभूति का आधार नहीं। इसी कारण वेदान्त मनन को श्रवण का स्वाभाविक एवं अपरिहार्य अनुगामी स्वीकार करता है।

मनन का वास्तविक महत्त्व इसी तथ्य में निहित है कि उसके अभाव में श्रवण केवल सूचना-संग्रह तक सीमित रह जाता है। मनन वह बौद्धिक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से श्रवण से प्राप्त तत्त्वज्ञान का युक्तिसंगत परीक्षण, विश्लेषण तथा आत्मसात् किया जाता है। जब तक साधक के अन्तःकरण में विद्यमान संशयों का तर्क एवं विचार द्वारा निराकरण नहीं होता, तब तक ज्ञान स्थिर एवं अविचल रूप धारण नहीं कर सकता। अतः मनन का उद्देश्य केवल चिन्तन करना नहीं, बल्कि शास्त्रजन्य ज्ञान को बुद्धि में दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित करना है। इस प्रकार श्रवण और मनन की समन्वित प्रक्रिया साधक को ज्ञान की स्थिरता की ओर अग्रसर करती है। श्रवण ज्ञान का आरम्भ है, जबकि मनन उस ज्ञान की प्रामाणिकता तथा बौद्धिक दृढ़ता का आधार है। इसी कारण वेदान्त में मनन को आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधना माना गया है। जब श्रवण एवं मनन के माध्यम से साधक के समस्त बौद्धिक संशयों का निवारण हो जाता है, तब साधना का तृतीय एवं अन्तिम सोपान निदिध्यासन प्रारम्भ होता है। निदिध्यासन का तात्पर्य केवल आत्मतत्त्व के विषय में बौद्धिक स्वीकृति प्राप्त कर लेना नहीं है, अपितु श्रवण एवं मनन से प्रतिपादित सत्य का निरन्तर चिन्तन, आत्मानुसन्धान एवं अखण्ड भाव से अभ्यास करना है, जिससे वह साधक के प्रत्यक्ष अनुभव का विषय बन सके। इस प्रकार निदिध्यासन वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से शास्त्रजन्य ज्ञान जीवानुभूति में परिणत होता है। वेदान्त परम्परा में निदिध्यासन को आत्म-साधना का चरम चरण माना गया है। मनन द्वारा जो सत्य बुद्धि में दृढ़ हुआ था, निदिध्यासन के द्वारा वही सत्य साधक की अनुभूति का विषय बन जाता है। इस अवस्था में आत्मज्ञान केवल विचार या सिद्धान्त न रहकर साधक की प्रत्यक्ष अनुभूति बन जाता है, जिसके फलस्वरूप उसके समस्त व्यवहार, दृष्टिकोण तथा जीवनबोध में मूलभूत परिवर्तन घटित होता है। निदिध्यासन का परम लक्ष्य निर्विकार, निर्गुण एवं अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार है। 'निर्विकार' से अभिप्राय उस सत्ता से है जो समस्त परिवर्तनों से परे है तथा 'निर्गुण' उस परम तत्त्व का बोधक है जो समस्त उपाधियों एवं गुणविशेषों का अतिक्रमण करता है। जब साधक इस सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है, तब माया का आवरण निवृत्त हो जाता है तथा जीव और ब्रह्म, ज्ञाता और ज्ञेय, तथा आत्मा और अनात्मा के मध्य प्रतीत होने वाला द्वैतभाव विलीन हो जाता है। यही अद्वैत वेदान्त में आत्म-साक्षात्कार की परमावस्था मानी गई है। इसी अवस्था को स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि जीवनमुक्त ज्ञानी भीतर और बाहर सर्वत्र अपने आत्मस्वरूप में स्थित होकर नित्य आनन्द का अनुभव करता है।

वस्तुतः अद्वैत वेदान्त किसी प्रकार का पलायनवादी या केवल संन्यास प्रधान दर्शन नहीं है, अपितु मानव जीवन की मूलभूत समस्याओं यथा- अज्ञान, मानसिक अशान्ति, आसक्ति तथा दुःख को गूढ़ दार्शनिक एवं व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करने वाली एक समन्वित ज्ञानपरम्परा है। इस दर्शन का परम लक्ष्य मोक्ष है, जिसे वेदान्त में दो रूपों में स्वीकार किया गया है- विदेहमुक्ति तथा जीवन्मुक्ति। विदेहमुक्ति का सम्बन्ध शरीरत्याग के उपरान्त अज्ञान के पूर्ण निवर्तन से है, जबकि जीवन्मुक्ति का अभिप्राय इसी जीवन में, इसी शरीर में स्थित रहते हुए आत्मज्ञान के द्वारा समस्त बन्धनों, अविद्या तथा मानसिक क्लेशों से मुक्त हो जाना है। अद्वैत वेदान्त की विशिष्टता इसी तथ्य में निहित है कि वह मुक्ति को किसी भविष्यकालीन या पारलौकिक उपलब्धि न मानकर वर्तमान जीवन में उपलब्ध होने वाली चेतना की परिष्कृत अवस्था के रूप में

प्रतिपादित करता है। इस दृष्टि से साधन-चतुष्टय तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन की सम्पूर्ण साधना-प्रक्रिया किसी बाह्य अनुष्ठान का विधान न होकर अन्तःकरण-शुद्धि तथा आत्मबोध की क्रमिक प्रक्रिया है। विवेक साधक को नित्य और अनित्य का यथार्थ बोध कराता है; वैराग्य उसे विषयासक्ति से मुक्त करता है; षट्सम्पत्ति मानसिक अनुशासन, धैर्य एवं अन्तःसंयम का विकास करती है; तथा मुमुक्षुत्व आत्मज्ञान के प्रति उसकी प्रबल अभिलाषा को स्थिर करता है। इसके उपरान्त श्रवण, मनन और निदिध्यासन के माध्यम से शास्त्रजन्य ज्ञान क्रमशः बौद्धिक स्वीकार से आगे बढ़कर प्रत्यक्ष आत्मानुभूति का स्वरूप ग्रहण करता है। फलतः साधक अद्वैत ब्रह्म की अनुभूति कर द्वैतजन्य समस्त भ्रान्तियों का अतिक्रमण कर लेता है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य वेदान्त में प्रतिपादित मोक्ष या आत्म-साक्षात्कार की चरम अवस्था तक पहुँचना नहीं हो सकता, तथापि अद्वैत वेदान्त के मूल सिद्धान्त सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक उपादेयता रखते हैं। यदि मनुष्य अपने दैनिक जीवन में नित्यानित्यवस्तुविवेक के माध्यम से स्थायी एवं अस्थायी के मध्य यथार्थ भेद स्थापित करना सीख ले तथा तितिक्षा के द्वारा जीवन के विविध द्वन्द्वों को समत्वपूर्वक सहन करने की क्षमता विकसित कर ले, तो वह मानसिक तनाव, असुरक्षा, भय, स्पर्धा तथा निरन्तर बढ़ती मनोवैज्ञानिक अशान्ति से पर्याप्त सीमा तक मुक्त हो सकता है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त का प्रयोजन केवल आध्यात्मिक उत्कर्ष तक सीमित न रहकर मानसिक स्वास्थ्य, नैतिक परिपक्वता तथा संतुलित जीवनदृष्टि के निर्माण में भी समान रूप से महत्वपूर्ण सिद्ध होता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त मनुष्य को परिस्थितियों के प्रति तात्कालिक एवं आवेगपूर्ण प्रतिक्रिया के स्थान पर विवेकपूर्ण चिन्तन एवं आत्मावलोकन की प्रेरणा देता है। बाह्य घटनाएँ स्वयं दुःख को कारण नहीं होतीं; अपितु उनके प्रति हमारी मिथ्या धारणाएँ, आसक्तियाँ तथा अविद्याजन्य अध्यास ही मानसिक अशान्ति के मूल कारण हैं। अतः आत्मज्ञान का अर्थ बाह्य जगत का निषेध नहीं, बल्कि उसके यथार्थ स्वरूप का सम्यक् बोध है। अद्वैत वेदान्त की माया की अवधारणा पर अन्तिम दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट होता है कि नाम-रूपात्मक सम्पूर्ण व्यवहार-जगत अन्तिम सत्य नहीं, बल्कि अविद्या से उपजी अनुभूति का क्षेत्र है। यदि मनुष्य इस दार्शनिक सत्य का गंभीरतापूर्वक मनन करे, तो उसे ज्ञात होगा कि जिन उपलब्धियों, पदों, सम्पत्तियों, प्रतिष्ठा, प्रशंसा, स्पर्धा तथा सांसारिक चिन्ताओं को वह जीवन का परम लक्ष्य मानकर उनके पीछे निरन्तर प्रयत्नशील रहता है, वे सभी परिवर्तनशील एवं अनित्य हैं। उनके प्रति अनन्य आसक्ति ही दुःख का कारण बनती है। अतः अद्वैत वेदान्त मनुष्य को संसार का परित्याग करने का उपदेश नहीं देता, बल्कि संसार के मध्य रहते हुए उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानने की दृष्टि प्रदान करता है। अन्ततः कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त का वास्तविक संदेश बाह्य परिस्थितियों का परिवर्तन नहीं, अपितु दृष्टि का परिवर्तन है। जब अविद्या का आवरण निवृत्त हो जाता है, तब वही संसार, वही कर्म, वही सम्बन्ध और वही जीवन आत्मबोध के आलोक में नवीन अर्थ के साथ उद्घाटित होते हैं। यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है, जहाँ मनुष्य बाह्य रूप से संसार में स्थित रहते हुए भी आन्तरिक रूप से पूर्णतः स्वतंत्र, समत्वयुक्त तथा आनन्दस्वरूप हो जाता है। यही अद्वैत वेदान्त की दार्शनिक पराकाष्ठा तथा उसकी शाश्वत व्यावहारिक उपादेयता है।

सन्दर्भ

1. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥ योगसूत्र 2/29
2. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशः क्लेशाः॥ योगसूत्र 2/3
3. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः। अनेन वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदान्तडिण्डिमः॥ ब्रह्मज्ञानावलीमाला - श्लोक 20
4. स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम्। संसिद्धः संमुखं तिष्ठेन्निर्यकत्पात्मनात्मनि॥ विवेक-चूडामणि, श्लोक 477, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2017
5. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः। सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः॥ विवेक-चूडामणि, श्लोक 20, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2017

6. आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगम्यते। इहामुत्रफलभोगविरागस्तदन्नन्तरम्। शमादिष्टकसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम्॥ विवेक-चूडामणि, श्लोक 19, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2017
7. सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकार-पूर्वकम्। चिन्ता-विलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते॥ विवेक-चूडामणि, श्लोक 24, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2017
8. अहङ्कारादि-देहान्तान् बन्धान्ज्ञान-कल्पितान्। स्व-स्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता॥ विवेक-चूडामणि, श्लोक 27, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2017
9. ततः श्रुतिस्तन्मननं सतत्त्व-ध्यानं चिरं नित्य-निरंतरं मुनेः। ततोऽविकल्प परमेत्य विद्वानि-हैव निर्वाण-सुख समृच्छति॥ विवेक-चूडामणि, श्लोक 70, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2017
10. संसिद्धस्य फलं त्वेज्जीवन्मुक्तस्य योगिनः। बहिरन्तः सदानन्दरसायास्वादनमात्मनि॥ विवेक-चूडामणि, श्लोक 418, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2017
11. विषयाख्यग्रहो येन सुविरक्त्यसिना हतः। स गच्छति भवाम्भोधेः पारं प्रत्यूहवर्जितः॥ विवेक-चूडामणि, श्लो